

भारत में लोकतन्त्र – एक समीक्षा

डॉ० हनुमान प्रसाद मीना
सह आचार्य राजनीति विज्ञान
शहीद कैप्टन रिपुदमन सिंह
राजकीय महाविद्यालय, सवाई माधोपुर

भारत में लोकतन्त्रीय पद्धति का लेखा-जोखा सामान्य तौर पर, अनेक आकस्मिक दबावों व विरोधाभासों के बीच, संसदीय पद्धति का सन्तोषजनक प्रतिमान प्रस्तुत करता है, जिसमें स्थायित्व व निरन्तरता हमेशा बनी रही है। इस का राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक पेण्डुलम एक ओर आशा व विश्वास और दूसरी ओर निराशा व अविश्वास के बीच निरन्तर झूलता रहा है। निराशाओं व संकटों ने जिस प्रकार भारत के पड़ोसी देशों को घेरे रखा है वे भारत की राजनीतिक व्यवस्था के प्रचलन को उस प्रकार नहीं छू पाये हैं। इसी कारण, कई स्तरों पर निराशाओं, राजनीतिक प्रक्रिया में निश्चित दिशाओं के आभाव के बावजूद, और यहां तक कि सामयिक दबावों व संकटों के होते हुए भी, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में निराश-हताश होने की कोई आवश्यकता दिखाई नहीं देती। लोकतन्त्र को केवल मात्र चुनाव करवाने या राजनीतिक जीवन में क्रोधित व निराश लोगों द्वारा नियम व कानून तोड़ने की सीमा से कुछ आगे देखा जाए, तो प्रतीत होता है कि लोकतन्त्र का ऊपरी ढांचा तो मजबूत हुआ है, किन्तु इस की जड़े कुछ हिलती दिखाई पड़ती हैं। भारत अभी तक अपनी स्थायी राष्ट्रीय एकता सुनिश्चित नहीं कर पाया है। विधान व्यवस्था समाज के सभी समूहों, संगठनों एवं वर्गों की आशाओं को संतुष्ट नहीं कर पाई है।

चुनावी राजनीति ने शक्तिशाली भूमिपति उच्च जातियों की स्थिति को मजबूत करने में मदद की है। विभिन्न जातियों के नेता भिन्न-भिन्न चुनाव क्षेत्रों व राजनीतिक दलों के बीच सम्पर्क बन गये हैं, क्योंकि वोट-बैंक उनके नियन्त्रण में है। चुनाव प्रक्रिया की इस विकृति का कुल परिणाम यह हुआ है कि व्यस्क मताधिकार सामाजिक सुधार के शान्तिपूर्ण कार्यान्वयन के लिये कोई लोकप्रिय दबाव नहीं बना पाया। इस के विपरीत जाति व आर्थिक हितों के वर्तमान रिश्तों ने नये-नये राजनीतिक समीकरणों को जन्म दिया है, जिस का प्रयोग शक्तिशाली राजनीतिक नेताओं ने अपने स्वार्थों के लिये किया है। गरीबों को आपस में बांट दिया है, जिससे वे अपनी संख्यात्मक शक्ति का प्रयोग अपने हितों की रक्षा के लिये नहीं कर पाते हैं और न ही अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति को सुधार पाते हैं।⁰¹ एक दृष्टिकोण से यह जनसंख्या बढ़ जाने के कारण से भी हुआ है और स्पष्टवादी हित समूहों की व्यवस्था पर मांगों के लिए दबाव डालने के सामर्थ्य से भी, जिन को व्यवस्था पूरा नहीं कर सकती। किन्तु यथार्थ में यह एक गम्भीर संकट है, जिसने समाज को दबोच रखा है, वह संकट है विकास का संकट। विकास के लिये यह आवश्यक था कि स्वतन्त्र भारत में जहां उदारवादी लोकतन्त्र का औपचारिक उद्घाटन हुआ था वहां सामान्यजन और संस्थाओं में एक मधुर

तालमेल भी बिठाया जाता और इसे समर्थक राजनीतिक संस्कृति के विकास के लिये प्रोत्साहित किया जाता। राजनीतिक नेतृत्व के लिये यह कार्य कठिन अवश्य था, किन्तु असम्भव नहीं था। आखिरकार हमारा एक संविधान था, जिसमें शासकों और शासितों के बीच सामीप्य के कई प्रावधान थे। संविधान में कई वायदे भी किये गये थे। इन्हें कार्यान्वित करने हेतु इच्छाशक्ति व कल्पना की आवश्यकता थी। किन्तु भारतीय नेताओं ने इस तथ्य को नजर अन्दाज कर दिया कि सम्पूर्ण लोकतन्त्रीय ढांचे का प्रयोग सामान्यजन की भालाई के लिये किया जाना चाहिये। वे उदारवादी लोकतन्त्र के उपयोगी प्रभाव के बारे में पूरी तरह आश्वस्त थे और सोच रहे थे कि इस से ही देश में लोकतन्त्रीय संस्कृति का स्वतन्त्र जन्म हो जायेगा। उन्होंने राजनीति को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। जो बात उन्होंने नहीं पहचानी वह यह थी कि लोकतन्त्र अपनाने से ही लोकतान्त्रिक संस्कृति तथा वातावरण स्थापित या विकसित नहीं हो जाता। यह एक मिथ्या आशा थी कि जो कुछ पश्चिमी परिस्थितियों में लाभकारी था, वह भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में, राजनीतिक प्रक्रिया के अनेक बिन्दुओं पर कड़ी मेहनत किये बिना, ही सफल हो जायेगा। इस तरह के कोई प्रयास नहीं किये गये, जिस के परिणाम स्वरूप लोगों और शासन के बीच अन्तराल को कम नहीं किया जा सकता। इस विफलता के कारण एक ओर एक ही शासक समूह के विभिन्न घटकों के बीच और दूसरी ओर शासक समूह व लोगों के बीच संघर्ष को निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। फिर भी लोकतन्त्रीय ढांचे ने मांगों के प्रस्तुतीकरण उन्हें पहचानने और सामूहिक स्तर पर उनके समाधान का अवसर दिया है⁰²।

अब तक वंचित निम्न व मध्य वर्गों एवं जातियों, जनजातियों और किसानों को लोकतन्त्रीय प्रणाली ने अपनी लपेट में ले लिया है। एक अल्प विकसित समाज में लोकतन्त्रीय प्रयोग के बीच व्यवस्था में नये रंगरूटों व समूहों ने विभिन्न पहचानों और राजनीतिक मांगों को जन्म दिया है। सामयिक चुनावों ने सरकार को लोगों के प्रति उत्तरदायी बनने के लिये मजबूर किया है, उन लोगों में एक नवीन जागृति का जन्म हुआ है, जो अब तक निरक्षर, निर्धन, दलित व अपेक्षित थे। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में दो धाराओं ने भारत की राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित किया है, जागृति और स्वलन। जागृति से समाज के लगभग सभी सामाजिक वर्गों, गरीब-अमीर, सम्पन्न-विपन्न, में खुली, मुक्त, प्रतिनिध्यात्मक राजनीतिक समझ का निरन्तर विकास होता रहा है। इस के साथ-साथ ही यह चेतना बढ़ी है कि राजनीतिज्ञों को किये गये वायदों का पालन करना चाहिये, संसाधनों के लिये बढ़ती भूख और आग्रह जन्म लेते रहे हैं। गरीब मतदाता अब इस बात की स्वीकृति नहीं देते कि भूमिपति बतायें कि उन्हें वोट कैसे और किसे डालना चाहिये⁰³। इस निरन्तर बढ़ती चेतना ने अनेक दबाव समूहों को सक्रिय किया है, जो अपने अस्तित्व की पहचान बना चुके हैं और प्रतियोगिता व संघर्षण में सक्रियता से भाग लेते हैं। राजनीतिक चेतना से भारत एक सच्चा लोकतंत्र बन पाया है, इस में समरूपण आया है, और कई बार तो यह इतना अधिक उपद्रवी हो जाता है, कि इसे सम्भालना कठिन हो जाता है। परन्तु यह सब ऐसे समय पर होता रहा है, जब भारत की राजनीतिक संस्थाओं का स्वलन हो चुका है, अर्थात् अब वे सामाजिक

समूहों के दबावों का रचनात्मक तरीके या कम से कम सामान्यतया विधियों से उत्तर नहीं दे पाते, मांगों को हल करना उन के लिये असम्भव सा हो गया है। इस स्खलन का प्रभाव औपचारिक व अनौपचारिक दोनों प्रकार की संस्थाओं पर पड़ा है, प्रमुखतया राजनीतिक दलों, विशेषकर कांग्रेस पार्टी पर, जो काफी लम्बे समय तक, भारत की महत्वपूर्ण संस्था रही है। ऐसा कुछ हद तक सुलझे हुए नेताओं के सेवानिवृत्त होने या मृत्यु के कारण हुआ है। किन्तु श्रीमति गांधी के शासन काल में संस्थाओं का व्यवस्थाबद्ध निरन्तर ह्रास हुआ है, क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत व वंशानुगत शासन को सुरक्षित करने हेतु सत्ता का भंयकर केन्द्रीयकरण किया था। इसलिये रूडोल्फज ने भारत को एक राजनीतिक व आर्थिक विरोधाभास की संज्ञा दी है, जिसमें एक शक्तिशाली राज्य तो है परन्तु उस राज्य में परिवर्तन करने तथा न्याय दिलवाने की हिम्मत नहीं है। सामाजिक संघर्षों में राज्य की निरन्तर न्यून होती भूमिका तथा लोगों व व्यवस्था चालकों के मनो में राजनीतिक प्रक्रिया की सक्षमता के प्रति बढ़ती शंकाओं से न केवल राजनीतिक अस्थिरता पनप रही है, अपितु इस परिस्थिति से हिंसा, साम्प्रदायिक जैसी अनेक नकारात्मक पहचानें, विलगता की मांगें और निराशा भी पैदा हो रही है जिससे सारी जनसंख्या को अवांछित व उपेक्षित समझा जा रहा है।

इस सामाजिक व राजनीतिक स्राव के परिदृश्य के साथ-साथ उस केन्द्रीय संस्था अर्थात् राज्य के समर्थ के प्रति सन्देह उत्पन्न हो रहे हैं, जिस से अनेक अपेक्षाएं थी। आधुनिक राज्य सभ्य समाज की अनिवार्यता है, आज तक इसे केन्द्रीय माना जाता था, किन्तु अब जैसे इस का लोप हो चुका है, क्योंकि शान्ति-व्यवस्था, असुरक्षा और हिंसा का भय निरन्तर बना रहता है। राज्य के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होता है कि शान्ति-व्यवस्था को बनाये रखने के लिये राज्य को काफी शक्ति देनी पड़ती है, तथा सकारात्मक दृष्टिकोण यह होता है कि वह आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन का यंत्र बन सके, दोनों ही दृष्टिकोणों की विश्वसनीयता का पतन हुआ है। फिर भी राज्य ही सामाजिक परिवर्तन का सक्षम साधन है। इसीलिये भाग्य या निजी पूंजीवाद को दोष देने की बजाये परिवर्तन की प्रक्रिया में विफलता के लिये राज्य को ही दोष दिया जाता है। गतिशील व आशायुक्त जनसमूहों द्वारा चुनौती के परिप्रेक्ष्य में अब शासक वर्ग ने यह सुझाव देना प्रारम्भ कर दिया है कि प्रत्येक समाज को पूरी तरह जड़ से नहीं बदला जा सकता। इसके वर्तमान आधार को बनाये रखना बहुत जरूरी है।

सांस्कृतिक विरासत से वह कुछ प्राप्त कर लिया जाये, जो वर्तमान को उज्ज्वल बनाने के लिये आवश्यक समझा जाये और आर्थिक विकास व परिवर्तन के लिये उचित हो। इस बहाने को लेकर, राजनीतिक दृष्टि से महत्वाकांक्षी व्यक्ति अब अपने अस्तित्व को जाति, धर्म, नस्ल के साथ जोड़ कर उन्हें स्वाभाविक राजनीतिक इकाई मानने लग गये हैं। वैचारिक व नीतिगत मुद्दों पर आधारित राजनीतिक प्रतियोगिता का स्थान वोट बैंक से परिपूर्ण संकीर्ण पहचानों ने ले लिया है। रजनी कोठारी के मत में रू सम्प्रदायवाद अब कोई विसंगति नहीं है, अपितु व्यवस्था का अंग है। सच्चाई तो यह है कि राजनीतिक दल अपने राजनीतिक हितों को पूरा करने के लिये, अपने सामाजिक आधार का विस्तार करने हेतु भावनाओं का निरन्तर शोषण कर रहे हैं। चुनाव अब एक रास्ता बन गये हैं, परिवर्तन की बजाये वे अब

यथा-स्थिति को बनाये रखने के साधन और निज-अनुभूति के साधन हैं⁰⁵ । पश्चिमी देशों में प्रचलित लोकतन्त्रीय पद्धतियों से बिल्कुल विपरीत हैं, जहां यह सत्तात्मक राजनीति को रोकने की एक सक्षम व उचित प्रक्रिया है। राजनीतिक संस्कृति अब भोगवाद संस्कृति है, जिसने राजनीतिक व्यवस्था भारतीय शासन और राजनीति के उदारवादी मूल्यों और विचारों का अवमूल्यन किया है। सच तो यह है कि राजनीतिज्ञों के हाथों में अब कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह घटनाक्रम को प्रभावित करने की क्षमता रखते हों, जो कि उद्देश्यपूर्ण राज्य का सार होता है। संस्थाओं का यथार्थ में पास हुआ है। संसद व विधानमण्डलों में चर्चाओं की अनुमति नहीं दी जाती, अन्वेषण आयोग बिठाये जाते हैं, किन्तु उनके प्रतिवेदन कार्यालयों की धूल चाटते हैं, जिस का परिणाम यह होता है कि शिकायतों का निवारण संस्थाओं के बाहर ही करना पड़ता है। इसलिये मांगों को मनवाने के लिये विलंगन की भावना के दबाव, जुझारू संगठनों तथा हिंसात्मक साधनों को प्रभावशाली माना जाता है। सत्ता का असली खेल बाहरी शक्तियों के हाथों में जा रहा है, विश्व शक्तियों के आर्थिक दबाव में राष्ट्रीय प्राथमिकताओं की निरन्तर अवहेलना हो रही है, शक्तिशाली तकनीकी दबाव और साधनों का नाश इस में अन्तनिहित है। उपभोक्तावाद का विष फैल रहा है, प्रसार साधनों की और उन के नियन्त्रकों की शक्ति वृद्धि पर है, प्रचार से सार्वजनिक रुचि को बदला जा रहा है, मनोरंजन व आनन्द देने वाले उद्योगों के निरन्तर फेलाव से आधुनिकता की पकड़ मजबूत हो रही है, देश में अपराध, अश्लीलता रुचि, मदिरा, नशीले पदार्थों व नग्न साहित्य का प्रचलन बढ़ रहा है। भारत के नेता अब इस बाढ़ को रोकने में असमर्थ हैं। बारीकी से परीक्षण किया जाये, तो इसके लिए न ही उन के पास शक्ति है और न ही इच्छा। शासक वर्ग किसी कानून, नियम, सार्वजनिक नैतिकता के सिद्धान्त को नहीं मानता, उन्हें लोकजन की समस्याओं से कोई सरोकार नहीं, प्रजा के प्रति कोई उन की जवाबदेही नहीं, भ्रष्टाचार तो अब बड़पन का चिन्ह है, जितना बड़ा नेता, उतना अधिक भ्रष्ट । उन का लोगों से कोई सम्पर्क नहीं, वे लोगों से अलग पड़ गये हैं, वे अब सत्ता के दलालों और मध्यस्थियों के शिकर्जे में बुरी तरह जकड़ते जा रहे हैं। इस तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं करेगा कि एक भयानक नैतिक पतन हमारी प्रतीक्षा में है। इसने शरीर को आत्मा से आगे, घृणा को प्रेम से आगे, असत्य को सत्य से आगे, कार्यसाधिता को साख से आगे, स्वार्थ को परोपकार से आगे, और अपराध को कानून से आगे कर दिया है।

शासक वर्ग में चाटुकारों का एक नया वर्ग जन्म ले रहा है, जिन की निष्ठा इस पैमाने से नापी जाती है कि वे अपने नेता के आलोचकों को कितनी गालियां दे सकते हैं और उन पर कितने आक्रमण करवा सकते हैं। राजनीति की एक अन्य उभरती हुई विशेषता अपराध का राजनीतिकरण और राजनीति का अपराधीकरण है⁰⁶ । अपराध के राजनीतिकरण के द्वारा दल के लिये असामाजिक तत्वों द्वारा धन एकत्रित करने की होड़, चुनावों का प्रबंध करना, चुनाव सभाएं आयोजित करना, जलसे-जुलूस निकलवाने के कार्यों को करवाना है। यहां तक कि निम्न स्तर पर दलों में असामाजिक तत्वों की भर्ती भी की जाती है। इस का अर्थ यह भी है कि राजनैतिक विरोधियों को ब्लैकमेल करने के लिये अपराधी गुप्तचरों का प्रयोग किया

जाये।

राजनीति के अपराधीकरण का अर्थ है अपराधियों का राजनीतिक दलों व विधायिकाओं, और यहां तक कि संसद में सीधा प्रवेश। इस का अर्थ यह भी है कि राजनीतिक प्रक्रिया व पद्धति को प्रभावित करने हेतु अपराधिक तरीकों व हथकण्डों का प्रयोग किया जाये। राजनीति अब संयम वाली क्रिया नहीं रही। सार्वजनिक जीवन पर गुण्डों और बदमाशों का नियन्त्रण बढ़ रहा है। बदनाम, अपराधियों, चोरों, डाकुओं, कारावास-भोगीयों, तस्करों और हत्यारों की राजनीति में संख्या बढ़ रही है; जो हमेशा लूट और शिकार की तलाश में रहते हैं। आरम्भ में वे भारतीय राजनीतिक जीवन के किनारे पर थे, फिर वे किनारे के अन्दर प्रवेश कर गये और अब वे काफी सीमा तक इसके मध्य में पहुंच गये हैं, जहां से वे राजनीतिक मशीन के यंत्रों को स्वेच्छा से चला सकते हैं। इस प्रकार राजनीतिक ढांचे अब अवरुद्ध हो गये हैं, राजनीतिक प्रक्रियाएं अस्त-व्यस्त हैं, राजनीतिक क्रिया उलझन में है, यह व्यर्थ और निकम्मी हो चुकी है और वंछित उद्देश्यों और विश्वासों को पाने में लड़खड़ा रही हैं। राजनीतिक सामाजिकरण की एजेन्सियां कमजोर हो चुकी हैं, राष्ट्रीय धन का व्यर्थ कार्यों के लिये प्रयोग हो रहा है, शासक वर्ग अव्यवस्थित और घबराहट में है और राजनीतिक परिवर्तन के सभी माध्यम अपनी प्राणशक्ति खो चुके हैं। कुल मिलाकर परिणाम यह है कि विकास अत्यन्त धीमा और बिखरा हुआ है और सामाजिक व राजनीतिक संस्कृति पूरी तरह से लड़खड़ा रही है; क्योंकि अब यह लंगड़ी हो चुकी है। आज के भारत का संकट अनेक कारणों से उत्पन्न होता है, एक परम्परावादी किन्तु समाज का राजनीतिकरण सीमित साधन किन्तु व्यापक प्रतियोगिता के विरोधाभास गहन दरिद्रता किन्तु उच्च आकांक्षाएं, उच्च राजनीतिकरण किन्तु कमजोर लोकमत; क्षीण संस्थाएं किन्तु शक्तिशाली नेता। अगर भारतीय समाज के वर्तमान संकट पर नियन्त्रण नहीं किया गया, तो स्थिति अत्यन्त उलझनदार व गम्भीर बन सकती है, जिससे आर्थिक असन्तुलन और गहरा हो सकता है। राजनीतिक अस्थिरता सामाजिक, नैतिक व सांस्कृतिक अपकर्ष सम्भव है। फिर भी, अभी स्थिति अधिक निराशा वाली नहीं है⁰⁷। गैर-पश्चिमी दुनिया में भारत ही मात्र ऐसा देश है जहां राजनीतिक चेतना ने न केवल सत्ता के मनमाने प्रयोग को रोका है, बल्कि आर्थिक विकास के लिये निरन्तर दबाव भी डाला है। यह सामाजिक न्याय के लिये भी प्रयासरत रहा है।

भारत का लोकतन्त्रीय प्रतिमान एक नवीन परिदृश्य पेश करता है, भले ही यह अपूर्ण व अधुरा हो। निस्सन्देह इस प्रयोग को निश्चित व तर्कसंगत उद्देश्यों तक नहीं ले जाया जा सका, क्योंकि न तो विकास-सम्बन्धी प्रयास सफल हुए हैं, न ही आर्थिक-सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सका है। विकास सम्बन्धी ध्येय भी अधूरे रहे हैं। देश का राजनीतिक नेतृत्व व नौकरशाही की अयोग्यता भारत की राजनीतिक क्रान्ति को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र तक नहीं पहुंचा पाई। इसी कारण एक ऐसी नवीन राजनीतिक संस्कृति को जन्म देने की आवश्यकता है जिसमें मानवीय स्वाधीनता को पूरा सम्मान मिले, जो बहुलवाद व सब के लिये सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित हो। आज हमारे सम्मुख सब से बड़ी चुनौती लोकतन्त्रीय परिवर्तन को सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों तक पहुंचाने

की है। इस शताब्दी की घटनाओं से एक तथ्य पूर्णतया स्पष्ट होता है कि मानवीय पीड़ाओं, के कारण अनेक समाज, विशेष रूप से वह देश जहां राजनीतिक संस्थाओं ने लोगों की क्रान्तिकारी भावनाओं को अभिव्यक्त करना था, न केवल काफी दबाव व तनाव में है, बल्कि लोकतन्त्र के पतन के कारण काफी उथल-पुथल अनुभव कर रहे हैं। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि लोकतन्त्र को किसी स्थिर सांचे में बांध कर नहीं रखा जा सकता⁰⁸। इसे नई-नई परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनकल ढलना, संवरना पड़ता है। इसे अपना क्षेत्र विस्तृत करना पड़ता है, जिससे लोग स्वयं को अभिव्यक्त कर सकें। लोगों की आवाजों को सुनना पड़ता है उनका गला नहीं घोंटा जा सकता, जिस प्रकार से आजकल किया जा रहा है। अनेक विसंगतियों एवं विफलताओं के बावजूद भी, हमने अब तक लोकतन्त्रीय राजनीति का प्रयोग किया है। भारत में लोकतन्त्र की भले ही कुछ सीमाएं हों, और वह कमजोर व सूक्ष्म भी हों, किन्तु फिर भी यह भारत के लोगों की कठिनाई से प्राप्त की गई उपलब्धि है, और उन्हें इस की रक्षा, सुरक्षा व विस्तार हेतु निरन्तर संघर्ष करना है।

लोकतांत्रिक देश के रूप में भारत की असाधारण सफलता का जश्न चल रहा है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकी देश, जो भारत के बाद आजाद हुए, वहां या तो लोकतंत्र बचा नहीं अथवा वहां उतार-चढ़ाव वाली स्थिति रही। भारत में इसकी जड़ें व्यापक और गहरी हुई हैं। इस सफलता की जड़ भारत की विश्वसनीयता में निहित है। भारत राजनीतिक लोकतंत्र के रूप में ढांचागत कमजोरियों से बाहर निकलने में कामयाब रहा है। पश्चिम के पुराने संगठित लोकतंत्रों के विपरीत, नया स्वतंत्र भारत घोर गरीबी, निरक्षरता, सामाजिक और आर्थिक असमानता से त्रस्त था। सदियों पुरानी विकृत सामाजिक व्यवस्था ने अधिसंख्य आबादी को सम्पत्ति, स्तर और ताकत की किसी भी हिस्सेदारी से वंचित कर रखा था। यह स्थिति सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना में बड़ी बाधक थी। कुटिल औपनिवेशिक शासन ने भारतीयों को विभाजित किया, जो विभाजन और साम्प्रदायिक हिंसा की वजह बना। यह भी माना जाता है कि लोकतंत्र ऐसे समाज में जड़ें जमाता है, जहां लोग समान धर्म, भाषा और संस्कृति साझा करते हैं। भारत जैसे सदियों पुराने जातीय विभाजन वाले समाज के बारे में तो माना जाता था कि वह लोकतंत्र बनाए रखने में सफल नहीं होगा। भारत की असाधारणता इस रूप में फिर प्रकट होती है कि वे पड़ोसी देश, जो अविभाजित भारत के हिस्सा थे, लोकतंत्र को टिकाऊ बनाए रखने में विफल रहे। वहां चुनावों के बाद, जब लोकतंत्र की वापसी होती दिखती है, तब भी विपक्षी दलों के साथ ही तटस्थ पर्यवेक्षकों की नजर में यह संदिग्ध ही रहता है। पाकिस्तान और बांग्लादेश की तरह भारत विफल लोकतांत्रिक देश क्यों नहीं बना, यह प्रश्न विचारणीय है यह भी सच है कि भारत की असाधारण लोकतांत्रिक सफलता को मुख्य रूप से चुनावी दृष्टिकोण से विश्व में सराहना मिली है। भारत में चुनाव स्वतंत्र और निष्पक्ष होते रहे हैं⁰⁹। यहां स्वतंत्र चुनाव आयोग है, स्वतंत्रता से चुनावी सर्वे भी होते हैं। राजनीतिक दलों और समूहोंकी चुनावों में भागीदारी बढ़ी है। भारत की चुनावी सफलता। समकक्ष पश्चिमी देशों से भिन्न है। पश्चिमी देशों में सबको मताधिकार औद्योगिक क्रांति के बाद मिला, इसके विपरीत भारत की संविधान सभा ने.

बिना भेदभाव के वोट का अधिकार दिया। 1928 में ही नेहरू रिपोर्ट ने इसका वादा किया गया था। यह वही वर्ष है, जब विश्व के सबसे पुराने लोकतंत्र ने अंतिम रूप से महिलाओं को वोट का अधिकार दिया था। भारत में लोकतंत्र की सफलता इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि एक वर्ग यह मानता है कि किसी भी देश में लोकतंत्र बने रहने की सफलता के मूल में आय सबसे महत्वपूर्ण कारक होती है। इसके विपरीत आजादी के वक्त भारत सबसे गरीब देशों में से एक था और आज भी बड़ी संख्या में लोग गरीबी से जूझ रहे हैं। भारत का स्थान संयुक्त राष्ट्र द्वारा हर साल जारी किए जाने वाले मानव विकास संकेतकों में बहत नीचे है। इसके बावजूद देश में लोकतंत्र मजबूत है। गरीब और वंचित समाज के लोग बड़े पैमाने पर मतदान करते हैं। पश्चिम की तुलना में, स्थानीय चुनावों यानी पंचायत स्तरीय चुनावों में लोकसभा चुनावों की अपेक्षा मतदाताओं का रुझान बढ़ा है। यह तथ्य है कि भारत में लोकतंत्र गहरी जड़ें जमा चुका है। चुनावों के बाद राजनीतिक सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण हो रहा है। सत्ताधारी दल प्रतिकूल चुनावी फैसले को स्वीकार करते हैं। भारत की कल्याणकारी और सुरक्षात्मक प्रतिबद्धता नीतियों में परिलक्षित होती है। उत्तरोत्तर सरकारें इन्हीं नीतियों पर चलती हैं। भारत में लोकतांत्रिक सफलता का ये रहस्य है¹⁰

पहला— औपनिवेशिक शासन की विरासत ने भारतीयों को सरकार होने का बोध कराया। ब्रिटिश शासन ने अदालत की स्थापना की, एक कानूनी प्रणाली की शुरुआत की। साथ ही सीमित मताधिकार, विधायी निकायों और एक आधुनिक नौकरशाही की शुरुआत की। 1909, 1919 और 1931 के अधिनियमों से संविधान को आकार देने का मार्ग प्रशस्त हुआ। अंग्रेजी शिक्षा ने अभिजात्य वर्ग और नव उभरे मध्यम वर्ग के बीच आधुनिक और उदार लोकतांत्रिक मूल्यों को जन्म दिया। दूसरी बात, राष्ट्रवादी आंदोलन ने भी इसमें बड़ी भूमिका निभाई है। आंदोलन का उद्देश्य अंग्रेजों को देश से निकालना ही नहीं, बल्कि आजाद भारत के लिए सामाजिक और आर्थिक एजेण्डा तैयार करना भी था। महात्मा गांधी का आंदोलन, 1928 की नेहरू रिपोर्ट, 1931 का कराची प्रस्ताव इसके उदाहरण हैं। संविधान में अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों के लिए जो प्रावधान हैं, उनकी जड़ें और मूल्य राष्ट्रवादी नेतृत्व के आंदोलन में नजर आते हैं। तीसरी बात लोकतांत्रिक सफलता का श्रेय राजनीतिक नेतृत्व को भी जाता है। आजाद हुए अन्य देशों के विपरीत, भारतीय नेतृत्व ने लोकतांत्रिक संस्थानों का पोषण किया। इसी तरह संसद ने भी अपनी पूर्व-प्रतिष्ठित स्थिति को बरकरार रखा। चौथी बात—तत्कालीन राजनीतिक नेतृत्व, विशेषकर कांग्रेस ने चुनावी हार के बाद भी विपक्षी दलों को स्थान देना जारी रखा। पांचवां— लोकतांत्रिक भारत की राजनीतिक संस्कृति सदियों पुराने बहुलवाद और सहिष्णुता के पारंपरिक मूल्यों पर आधारित है। इन मूल्यों ने विविधतायुक्त समाज में व्यापक सामंजस्य की भूमिका निभाई है।¹¹ . अंतिम रूप से, चुनौतियों को दूर करना अभी बाकी है। भारत में लोकतंत्र अभी और बेहतर, अधिक प्रतिनिधित्व वाला और समावेशी बन सकता है। और यह बात सभी लोकतांत्रिक देशों पर लागू होती है, क्योंकि कोई भी लोकतंत्र पूर्ण नहीं होता है।

संदर्भ सूची

1. जैन, एस. एन भारतीय संविधान और राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1984 पृ. 166
2. जाटव, डी0 आर0 भारतीय समाज एवं संविधान, समता साहित्य सदन, जयपुर, 1992 पृ. 34
3. जैन, पुखराज भारतीय राज व्यवस्था, साहित्यागार, आगरा, 2010 पृ. 320
4. जैन एवं फड़िया आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा,
- 5 जैन, एण्ड फड़िया इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2016 पृ. 160
- 6 जैन, हरिमोहन, भारतीय शासन एवं राजनीति शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2001
- 7 जोशी, आर. पी. भारतीय सरकार एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2007 पृ. 243
- 8 जोन्स, मॉरिस दा गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1950 पृ. 76
- 9 कौशिक, आशा, ग्लोबलाइजेशन, डेमोक्रेसी एण्ड कल्चर सिचुएटिंग गांधीयन ऑल्टरनेटिव्ज, पाइन्टर प्रकाशन, जयपुर, 2002 पृ. 166
- 10 कोठारी, रजनी पॉलिटिक्स इन इण्डिया, औरियन्ट लॉगमेंट लि., न्यू देहली, 1970
- 11 महला, अशोक कुमार भारतीय राजव्यवस्था, अरिहंत पब्लिसिंग हाऊस, जयपुर, 2002 पृ. 342